कर्म से निष्कर्म : जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त

–डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

'कर्म' बहुअर्थी शब्द है जिसका प्रयोग भावों के अनुसार होता है। व्याकरण के षट् कारकों में व्रर्त्ता-कर्म-आदि में भी शब्द का उपयोग हुआ है। जो परिणमित होता है वह कर्त्ता है। परिणमित होने वाले का जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है। यह तीनों एक-दूसरे से अभिन्न है। किसी वस्तु विशेष का स्वभाव-रूप-कार्य ही उसका कर्म होता है, जैसे जल का कार्य शीतल या नम्र रहना, अग्नि का कार्य दाहकता-पाचकता प्रकाशमान तथा आत्मा का कार्य ज्ञान-दर्शन आदि।

गीता में भी कर्म-विकर्म-अकर्म की चर्चा आयी है। गीता के अनुसार स्वधर्माचरण की वाह्य क्रिया ही कर्म है। जब कर्म भाव-बोध पूर्वक किया जाता है तब वह विकर्म कहलाता है। ईश्वर को समर्पित निष्काम कार्य अकर्म कहलाता है। कर्म और अकर्म के बीच विकर्म सेतु का काम करता है। ध्यान, ज्ञान, तप, भक्ति निष्काम-कर्म, संतुलित अनासक्त जीवन और शुभ संस्कार के साधन विकर्म कहलाते हैं।

जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। कर्म अतिसूक्ष्म पुद्गल (अचेतन) परमाणु हैं जो जीव के मोह-राग-द्वेष भावों के कारण आत्मा के प्रदेशों में आकर आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव को घातते हैं और सुख-दुख की वाह्य सामग्री उपलब्ध कराने में निमित्त का काम करते हैं। ऐसे कर्म द्रव्य कर्म कहलाते हैं। आत्मा और अचेतन कर्म-परमाणुओं के इस कृत्रिम एवं अस्वाभाविक सम्बन्ध को कर्मबन्ध कहते हैं। जैन दर्शन का सार कर्म-बन्ध और कर्म-क्षय की प्रक्रिया में निहित है!

विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का समूह है। जीव को छोड़कर शेष द्रव्य अजीव हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है। जीव अरूपी है। ज्ञान-दर्शन जीव के सहज स्वाभाविक गुण हैं। वह स्व-पर का ज्ञायक है। जीव अपने ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में कुछ परिवर्तन नहीं करता। वह अकर्त्ता-अभोक्ता है। ममत्व-स्वामित्व भाव से परे हैं। वह अपनी पूर्ण ज्ञान शक्ति से संसार के समस्त पदार्थों की त्रिकाली अवस्थाओं को एक समय में जानने/देखने की शक्ति रखता है! इस कारण वह परमात्म स्वरूप है।

जड़-पुद्गल का परिवार अत्यन्त व्यापक और बहुरंगा है। रूप, रस, गंध, वर्ण सहित सभी दृश्यमान वस्तुएँ, शरीरादिक अंगोपांग, अदृश्य-कर्म, मन और मन में उठने वाले क्रोध, अहंकार, मायाचार एवं लोभ के विकारी-भाव सभी जड़-पुद्गल परिवार में सम्मिलित हैं। जीव और जड़ कर्म की शक्तियों के बीच अनादि काल से निरन्तर संघर्ष चल रहा है। जीव अपने स्वभाव के प्रति मूर्च्छा/अविश्वास, अज्ञान और असंयम के कारण दुखी है और जड़-कर्म की शक्ति के उदय के कारण उसकी चेतन-ज्ञान शक्ति निष्प्रभ, परावलम्बी और प्रतिबंधित हो रही है। बड़ी विचित्र स्थिति है। चैतन्य आत्म शक्ति स्वरूप-विस्मरण के कारण अचेतन कर्म शक्ति के कारागृह में अपराधी/बंदी है। आश्चर्य यह है कि बंधन जीवात्माओं ने अपने-आप अपने-प्रयासों से अपने लिये स्वयं स्वीकार किये हैं। कर्म-बन्धन में जड़-कर्म परमाणुओं का कुछ भी कर्तव्य नहीं है और हो भी नहीं सकता क्योंकि वे इच्छा विहीन अचेतन हैं। कर्म-बन्ध कैसे और क्यों हुआ, यह निष्कर्म रूप होने के लिए समझना आवश्यक है।

जैन दर्शन की मान्यताएँ–जैन दर्शन की कुछ आधारभूत मान्यताएँ हैं–

१. पहले, विश्व के सभी जीव-अजीव द्रव्य स्वभाव से स्वतन्त्र, स्वाधीन, स्वावलम्बी और परिपूर्ण हैं। कोई किसी द्रव्य में कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता; यह बात विशिष्ट है कि सभी द्रव्य परिवर्तन प्रवाह में एक दूसरे के सहयोगी होते हैं।

२. दूसरे, विश्व का सृजन, नियमन, परिचालन एवं परिवर्तन द्रव्यों की स्व-परिणमनशीलता के कारण होता है। अनादिकाल से जो भी परिवर्तन होते रहे हैं/या हो रहे हैं, वह सभी द्रव्यों के परिवर्तनों का समुच्चय परिणाम है। कोई ईश्वर जैसी शक्ति विश्व का नियंता नहीं है।

३. तीसरे, विश्व की सभी चेतन-सत्ताएँ स्वभाव से स्वयंभू, ज्ञायक और परमात्म स्वरूप हैं। वे अपने स्व-विवेक या भेद-विज्ञान द्वारा निज शक्ति से परमात्मा बन सकती हैं या विकार-विभाव-शक्ति के मोहपाश में कर्मों के निमित्त से पीड़ित-प्रताड़ित-पतित होती रह सकती हैं।

निर्णय की स्वतंत्रता–सभी जीवात्माएँ इन्द्रिय एवं इन्द्रिय जन्य ज्ञान से युक्त हैं। पंचेन्द्रिय मन युक्त जीवात्माएँ विशिष्ट रूप से जानने, देखने और विचार करने की क्षमता रखती हैं। वे यह निर्णय करने में स्वतंत्र हैं कि वे ज्ञान-दर्शन रूप स्वभाव मार्ग को चुनें जिसमें किसी का कुछ करना-धरना नहीं पड़ता मात्र 'होरूप-ज्ञायक' रहना होता है या मोह रागादि भावों को चुने। यदि वे मोह-राग-द्वेष के विभाव-भावों में जमी-रमी रहती है, तब पर-वस्तु में ममत्व एवं इष्ट-अनिष्ट की भावना के कारण निरन्तर कर्म-बन्ध करती रहती हैं। यह कर्म-बन्ध संसार-दुख का कारण है। यदि वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने ज्ञायक-साक्षी स्वभाव में 'होने-रूप- होती' हैं तब निष्कर्म या कर्म क्षय की प्रक्रिया शुरू होती है, जो मोक्ष-मार्ग कहलाता है! कौन-सा मार्ग चुना जाये, इसके पूर्ण अवसर और स्वतंत्रता जीवात्माओं के समक्ष प्रत्येक समय रहती है। वे अपने स्वविवेक, ज्ञान और हित-अहित का निर्णय करने में स्वतंत्र-सक्षम है। इसे ही पुरुषार्थ की संज्ञा दी है। जैसा निर्णय, वैसा फल।

स्व-स्वभाव की रुचि और रमणता का फल है-अतीन्द्रिय-अनुपम आनन्द, परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन और मोह-क्षोभ रहित सहज शुद्धात्मा की प्राप्ति! विभाव-भाव में रमण का फल है-बाधित क्षणिक सुखाभास, दुख के संयोग, इन्द्रिय जन्य अल्प ज्ञान और जिज्ञासा, अपूरणीय अभिलाषा और संसार परिभ्रमण! स्व-स्वभाव की ओर प्रवृत्त आत्मा भव्य और स्व-समय-स्थित कहलाती है। विकार-विभाव तथा पर वस्तुओं से सुख की अभिलाषा करने वाली आत्माएँ **'पज्जय मूढ़ा पर-समया'** के अनुसार अज्ञानी/अभव्य होती है। अनादि काल से क्रोधादि-मोह रूप विभाव-भावों के कारण जीवात्माएँ परावलम्बी, पराधीन और दुखी है! सुखी और स्वावलम्बी होने की बाधा है-प्रतिपक्षी कर्म की शक्ति की, जो स्वरूप जागरण स्वरूप श्रद्धान-ज्ञान और स्वरूप रमण में अवरोध उत्पन्न करती है। जिस प्रकार मेघ-पटल के कारण सूर्य का प्रकाश आवृत हो जाता है, और जितना-जितना मेघ-पटल घटता जाता है, उतना-उतना सूर्य प्रकाश फेंकता जाता है; उसी प्रकार मोह-राग-द्वेष के विकारी भावों के कारण जड़-कर्म-परमाणु आत्मा की सहज स्वभाव शक्तियों को आवृत कर लेते हैं। इससे आत्मा की दिव्यता, भव्यता और स्वाधीनता बाधित हो जाती है। जितने-जितने अंशों में द्रव्य कर्मों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है उतने-उतने अंशों में ज्ञान-दर्शन स्वभाव प्रकट होता है, शेष ढंका रहता है।

जैन दर्शन में बन्ध योग्य कार्मण-वर्गणाएँ कर्म कहलाती हैं, जीव के शुभ-अशुभ भावों के निमित्त से जो कर्म आत्मा से बंधते हैं, वे द्रव्य कर्म कहलाते हैं। द्रव्य-कर्म अपनी स्थिति या काल के अनुसार उदय में आते हैं। कर्मों के उदय में जीव के जो मोह-राग-द्वेष रूप विकारी-भाव उत्पन्न होते हैं वे भाव-कर्म कहलाते हैं, तथा द्रव्य कर्मों के उदय से शरीर इन्द्रियादि प्राप्त होती हैं वे नो-कर्म कहलाते हैं। कर्म का बन्ध विभावी-भावों से होता है। जिनका उदय द्रव्य-कर्मों के कारण होता है। द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्य कर्म-बन्ध की प्रक्रिया निरन्तर चलती है।

घातिया-अघातिया कर्मों का वर्गीकरण-आत्मा के संदर्भ में कर्मों के प्रतिपक्षी प्रभावों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है-घातिया कर्म और अघातिया कर्म! पहले वर्ग में आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव को घातने/बाधित करने वाले कर्म आते हैं जैसे-(१) ज्ञान गुण को घातने वाला प्रतिरोधी ज्ञानावरण कर्म, (२) दर्शन गुण को घातने वाला प्रतिरोधी दर्शनावरण कर्म, (३) आत्म श्रद्धान रूप सम्यक्त्व एवं स्वरूप-रमण रूप चारित्र को घातने वाला प्रतिरोधी मोहनीयकर्म तथा (४) दान-लाभ-वीर्य-भोग-उपभोग की शक्तियों को घातने वाला प्रतिरोधी अन्तराय कर्म! यह कर्म जब उदय रूप रहते हैं तब आत्मा के ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति-गुण प्रगट नहीं हो पाते हैं और वह निजानंद-रस-पान से वंचित रहता है।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का है-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय में जीव स्व-स्वरूप के प्रति मूर्च्छित रहता है, जो अनन्त संसार-दुख का कारण है। दर्शन मोह के उदय में जीव पर-वस्तुओं से राग-द्वेष रूप अनन्त सम्बन्ध स्थापित करता है, इसे अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान- माया-लोभ कहते हैं। स्वभाव की दृष्टि से यह अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क चारित्र-मोह कहलाता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शन-मोह के उदय के कारण सम्यक्त्व का घात होता है जो चारित्र-मोह-कर्म निरपेक्ष है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी- कषायों के उदय से अनन्तानुबन्धी चारित्र का ही घात होता है, सम्यक्त्व का नहीं। यह विशेष है कि दर्शन-मोह के उदय में अनन्तानुबन्धी के उदय से जैसे क्रोधादिक होते हैं, वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्व होने पर नहीं होते अतः दुख और आकुलता का मूल कारण दर्शन-मोह ही कहा गया है जो सर्व कर्मों में प्रधान है। घातिया कर्मों का क्षय करने वाला स्नातक कहलाता है।

दूसरे वर्ग में चार अघातिया कर्म आतें हैं जिनके उदय में जीवों को सुख-दुख की वाह्य सामग्री आदि मिलती है, जैसे-(१) साता-असाता रूप इष्ट-अनिष्ट सामग्री देने वाला वेदनीयकर्म, (२) किसी शरीर विशेष में आत्मा को रोके रखने वाला आयु कर्म। (३) शरीर, गति, जाति, इन्द्रियाँ रूप, रस. गंध, स्पर्श आदि ढाँचा आदि देने वाला नाम कर्म तथा (४) नीच-उच्च कुल प्रदान करने वाला गोत्र कर्म। यह कर्म यद्यपि जीव के ज्ञानादि स्वभाव को नहीं घातते किन्तु उनके उदय से सुख-दुख की सामग्री, मान-अपमान, जन्म-मृत्यु, गति-जाति, उच्च-नीच कुल आदि प्राप्त होते हैं।

भावों की विविधता, विचित्रता और अनेकरूपता के अनुसार कर्मों के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं फिर भी उन्हें व्यापक रूप से १६८ कर्म प्रकृतियों में विभाजित किया है। घातिया कर्मों में ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की नौ, मोहनीय में दर्शन मोह की तीन और चारित्र मोह की २५, और अन्तराय की ५ प्रकृतियाँ होती हैं। अघातियाँ कर्मों में वेदनीय की दो, आयु की चार, नामकर्म की ११३ और गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ होती है। इन १६८ प्रकृतियों में ६८ पुण्य प्रकृतियाँ और १०० पाप प्रकृतियाँ होती हैं। कर्म-बन्ध योग्य १२० होती है जिनमें ५८ अप्रतिपक्षी और ६२ प्रतिपक्षी होती हैं। अबन्ध योग्य २८ होती हैं।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार जीव विपाकी ७८, पुद्गल विपाकी ८२, भव विपाकी ४, और क्षेत्र विपाकी ४ होती हैं।

अभव्य जीवों को ४७ ध्रुवबंधी कर्म-प्रकृतियों का अनादि-अनन्त बंध होता है। भव्य जीवों को ७३ अध्रुवबंधी कर्म प्रकृतियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सादि-अनादि, ध्रुव और अध्रुव बन्ध होता है। निरन्तर-बंधी ५४ कर्म प्रकृतियाँ हैं। सान्तर-बंधी ३४ कर्म प्रकृतियाँ हैं। सान्तर-निरन्तर बंध वाली ३२ कर्म प्रकृतियाँ हैं। मिथ्यात्व आदि २७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध तब होता जब वही कर्म प्रकृतियाँ उदय में आती हैं, इन्हें स्वोदय-बंधी कहते है। कर्म प्रकृतियाँ अत्यन्त घातक और दुर्दमनीय होती हैं। तीर्थंकर, नरकायु आदि ग्यारह कर्म प्रकृतियाँ परोदय बंधी हैं। शेष ८२ कर्म प्रकृतियाँ स्वोदय बंधी हैं।

भावों के अनुसार पूर्ववद्ध कर्म प्रकृतियों में संक्रमण (सातावेदनीय से असातावेदनीय आदि), उत्कर्षण, अपकर्षण, उदय-उदीरणा, उपशान्तकरण आदि होता रहता है। इस दृष्टि से आत्म स्वभाव और विभाव-भाव का स्वरूप समझना आवश्यक है।

कर्म-बन्ध का आधार विभाव-भाव—चेतन और जड़-कर्म शक्तियों के बन्ध का कारण आत्मा के विभाव-भाव हैं। भाव से ही मोक्ष, स्वर्ग और नरक मिलता है। भाव से ही उपलब्धि होती है। भाव विहीन क्रिया निरर्थक होती है। जैसा भाव, वैसा कार्य। जैसा कार्य, वैसा फल।

प्रश्न यह है कि भाव क्या है? चेतन पुद्गल द्रव्यों के अपने-अपने स्वभाव-भाव होते हैं, वे सब भाव कहलाते हैं। भवन भवतीति वा भावः अर्थात् जो होता है, सो भाव है। इसमें 'होना' शब्द महत्वपूर्ण है जो करने या न करने के भाव से रहित है। 'भावः चित्परिणामो' के अनुसार चेतन के परिणाम को भाव कहते हैं। 'शुद्ध चैतन्य भावः' के अनुसार सहज शुद्ध चैतन्य भाव ही शुद्ध भाव है। इस प्रकार आत्मा का शुद्ध ज्ञान-दर्शनादि भाव ही उसके भाव हैं। आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यभाव में रहे, यही उसका धर्म है। किन्तु कर्मों के उदय के अनुसार मोह-राग-द्वेष भाव आत्मा में उत्पन्न होते रहते हैं, जो अधर्म रूप है।

जब जैसा भाव होता है, वैसा ही कर्म-बन्ध होता है। इस प्रकार आत्मा के भाव दो प्रकार के होते हैं, पहला—कर्म-निरपेक्ष भाव और दूसरा कर्म सापेक्ष भाव। कर्म-निरपेक्ष भाव जीव का त्रिकाली पारिणामिक भाव है जो प्रत्येक जीव के साथ प्रत्येक अवस्था में सदैव बना रहता है। यह भाव जीवों की मूल शक्ति है जो जीवत्व से सम्बद्ध है। जीवत्व भाव शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा भाव है जो कारण परमात्मा के रूप में विद्यमान रहता है। जीव भी भव्य और अभव्य दो प्रकार के होते हैं। भव्य जीव परमात्म स्वरूप शुद्ध होने की पात्रता रखते हैं।

जीव के कर्म-सापेक्ष भाव चार प्रकार के हैं—औदयिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औपशमिक भाव और क्षायिक भाव। औदयिक भाव मोह-राग-द्वेष के विभाव भाव हैं जो पूर्व-वद्ध कर्मों के उदय के कारण पर-वस्तुओं के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। यह भाव पुनः कर्मबन्ध के कारण बनते हैं। मनुष्यादि चार गति, क्रोधादि चार कषाय, तीन वेद, छह लेश्या, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और असिद्धत्व यह इक्कीस आत्मा के विभाव-भाव हैं। क्षायोपशमिक भाव कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। चार सुज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धि, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व एवं चारित्र, और देश संयम यह अठारह भाव क्षायोपशमिक भाव होते हैं। इनमें चार सुज्ञान, अवधि दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व एवं चारित्र तथा देश संयम आत्मा के स्वभाव-भाव में साधक होते हैं। शेष तीन अज्ञान, दो दर्शन एवं पाँच लब्धि विभाव-भाव होने के कारण दुख-स्वरूप हैं। औपशमिक भाव कर्मों के उपशम से होते हैं। यह दो प्रकार का है—पहला औपशमिक सम्यक्त्व और दूसरा औपशमिक चारित्र। यह दोनों भाव आत्म स्वभाव में साधक होते हैं। क्षायिक भाव प्रतिपक्षी कर्मों के क्षय से प्रकट होते हैं। यह नौ प्रकार के हैं—केवल दर्शन, केवल ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र तथा दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य की पाँच लब्धियाँ। घातिया कर्मों के क्षय होने पर शुद्ध ज्ञान-दर्शन युक्त शुद्ध पर्याय का उदय होता है। जो कार्य-परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार जीव के शुद्ध स्वभाव रूप परम पारिणामिक भाव का आश्रय लेकर क्षयोपशम और उपशम रूप सुज्ञान एवं अपूर्ण शुद्ध पर्याय के साधन से वीतराग रूप शुद्ध स्वभाव पर्याय का उदय होता है। इनसे प्रतिपक्षी क्रोधादिक औदयिक-विभाव भाव तथा अज्ञान आदि क्षायोपशमिक विभवों से उत्पन्न अशुद्ध-पर्याय का विनाश हो जाता है। कर्म-बंध एवं निष्कर्म हेतु भावों की प्रकृति-स्वरूप और उनकी भूमिका सम्यक रूप से समझना आवश्यक है।

'सुद्धं सुद्ध सहाओ अप्पा अप्पम्मितं च णायव्वं'

(भाव पाहुड-७७) के अनुसार जीव का शुद्ध भाव है सो अपना शुद्ध स्वभाव आप में ही है। शेष विभाव भाव अशुद्ध हैं। भावों को निम्न चार्ट द्वार स्पष्ट किया है।

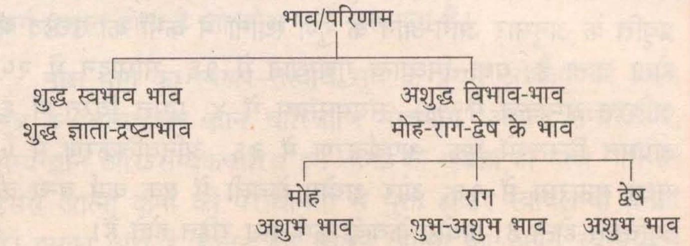

स्वभाव-विभाव में उपयोग की भूमिका—जीव चेतना स्वरूप है। जीव की परिणति या व्यापार उपयोग कहलाता है। उपयोग दो प्रकार का होता है—ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग। यह वे साधन हैं जिनसे जीव के भावों की परिणति व्यक्त होती है। 'दर्शन' अन्तर्चित प्रकाश का सामान्य प्रतिभास होने से वचनातीत, निर्विकल्प और अनुभवगम्य होता है। 'ज्ञान' बाह्य पदार्थों का विशेष प्रतिभास होने के कारण वचन-गोचर और सविकल्प होता है। जीव का ज्ञान-दर्शनात्मक व्यवहार शुद्ध, शुभ और अशुभ रूप तीन प्रकार का होता है। जब जीव का उपयोग ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में मात्र 'होने-रूप' होता है तब वह निर्विकल्प और शुद्ध होता है, जो शुद्धोपयोग कहलाता है। जब जीव का ज्ञान-दर्शनात्मक व्यापार पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुओं का आश्रय लेकर शुभ या अशुभ विकल्प रूप होता है, तब वह क्रमशः शुभोपयोग और अशुभ उपयोग कहलाता है। धर्म-ध्यान, जीव दया, सद् विचार, सद् वचन, सद् कार्य, दान अनुकम्पा, पूजा-भक्ति, शुद्ध ज्ञान-दर्शनादिक आदि शुभोपयोग कहलाता है जो पुण्य-बन्ध और स्वर्ग सुख का कारण है। आर्त-रौद्रध्यान, क्रूरता, मिथ्याज्ञान-दर्शनादिक, असद् विचार, असद् वचन, असद् कार्य और हिंसादि पाँच पाप रूप प्रवृत्ति अशुभ उपयोग कहलाता है जो पाप-बन्ध और नरक-दुख का कारण है।

भाव और उपयोग का सम्बन्ध–जीव के भाव और उपयोग यद्यपि समानार्थी जैसे लगते हैं किन्तु इनमें आधार-भूत अन्तर है। भाव जीव के शुद्ध, शुभ और अशुभ भावों या परिणामों का सूचक हैं। उपयोग जीव के अन्तरंग भावों के अनुसार उसकी ज्ञान-दर्शनात्मक परिणति का सूचक है। शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा भाव से शुद्धोपयोग, प्रशस्त राग से शुभोपयोग और मोह-द्वेष तथा अप्रशस्त राग से अशुभोपयोग की प्रवृत्ति होती है। भाव और उपयोग के अनुसार कर्म से निष्कर्म/मोक्ष की चौदह श्रेणियाँ हैं, जो गुणस्थान कहलाती हैं। मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र गुणस्थानों में क्रमशः घटता हुआ अशुभ उपयोग होता है। अविरत सम्यक्त्व, संयमासंयम एवं प्रमत्त विरत गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का साधक क्रमशः बढ़ता हुआ शुभ उपयोग होता है। अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-करण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशांत कषाय एवं क्षीण कषाय गुणस्थानों में तारतम्य पूर्वक बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग होता है। सयोग और अयोग केवली गुणस्थान शुद्धोपयोग का फल शुद्धात्मा रूप स्वभाव कार्य तत्व की उपलब्धि है। इस प्रकार भाव-लक्ष्य के अनुसार आत्मा के ज्ञान-दर्शन रूप व्यापार की परिणति से शुद्ध वीतराग पर्याय की उपलब्धि होती है (प्रवचनसार गाथा ९)। उपयोग की प्रवृत्ति के अनुसार आगे-आगे के गुण स्थानों में कर्मों का उच्छेद भी होता जाता है, यथा–मिथ्यात्व गुणस्थान में १६, सासादन में २५, अविरत सम्यक्त्व में १०, संयमासंयम में ४, प्रमत्त विरत में ६, अप्रमत्त विरत में एक, अपूर्वकरण में ३६, अनिवृत्तिकरण में ५, सूक्ष्म सम्पराय में १६, और अयोग केवली में एक कर्म बन्ध की व्युच्छिति होती है। अयोग केवली कर्म-बन्ध रहित होते हैं।

सात तत्व–'जीवाजीवाश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा- मोक्षास्तत्वम्' (त. सूत्र अ. १- सू. १-४) जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्व कहलाते हैं। इन तत्वों की सही जानकारी और तदनुसार विश्वास से मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है। आध्यात्मिक संदर्भ में जीव ज्ञायक आत्मा है। अजीव जड़ कर्म हैं। मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ योग रूप प्रवृत्ति से कर्मों का आत्म प्रदेशों में आगमन आश्रव है। मोह-राग द्वेष के भावों के कारण कर्मों का आत्म प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध कर्म-बन्ध है। कर्मों का आगमन रुकना संवर है तथा सम्यक् तप पूर्वक पूर्ववद्ध कर्मों का बिना फल दिये झड़ना निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय या नाश मोक्ष तत्व है। इनमें जीव-अजीव ज्ञेय, आश्रव और कर्म-बन्ध हेय-त्याज्य हैं। संवर-निर्जरा उपादेय-ग्रहणीय हैं और मोक्ष उसका फल है। इन सात तत्वों की प्रक्रिया कर्म-बन्ध से निष्कर्म की प्रक्रिया कहलाती है।

कर्म-बन्ध का आधार-आत्मापराध–चेतन जीव और जड़ कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के अपराध का फल है। यदि आत्मा अपने परम पारिणामिक शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा भाव रूप रहे तब वह संसिद्धि या राध रूप कहलाता है। इसका अर्थ अपने स्वभाव रूप-होने-में-होना कहलाता है। इसे ही शुद्ध पर्याय कहते हैं। किन्तु अनादि काल से आत्मा ने अपने इस होने-रूप-ज्ञायक-स्वभाव को नहीं पहिचाना और पर-पदार्थों के प्रति ममत्व, कर्त्ता-भोक्ता एवं स्वामित्व के इष्ट-अनिष्ट सम्बन्ध बनाये हैं। स्व-का-विस्मरण और पर-में-रमण का आत्म-अपराध ही कर्म बन्ध का आधार है। 'जो आत्मा अपगतराध अर्थात् राध या संसिद्धि से रहित है, वह आत्मा का अपराध है' (समयसार-३०४)' 'जो पर द्रव्य को ग्रहण करता है वह अपराधी है, बंध में पड़ता है। जो स्व-द्रव्य में ही संवृत्त है, ऐसा साधु निरपराधी है' (समयसार कलश १८६)।

आत्म-अपराध का कारण–तत्वार्थ सूत्र के अध्याय ८ का प्रथम सूत्र है–"मिथ्या दर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतवः" अर्थात् मिथ्यात्व (दर्शन मोह), अविरति-प्रमाद-कषाय (चारित्र मोह) और योग, यह कर्म-बन्ध के कारण हैं। इनमें मिथ्यात्व-आत्म अश्रद्धान 'मोह' है। अविरति प्रमाद और कषाय राग द्वेष हैं तथा मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ रूप प्रवृत्ति 'योग' है। मोह-राग-द्वेष जीव के अशुद्ध पर्याय रूप विभाव-भाव हैं जबकि योग शरीराश्रित क्रिया का परिणाम है।

मन-वचन-काय के शुभ-अशुभ योग रूप स्पंदन होने से आत्मा के प्रदेश प्रकंपित होते हैं जिससे शुभ-अशुभ कर्मों का आश्रव (आगमन) होता है। पश्चात् मोह-राग-द्वेष के भावों की सचिक्कणता के अनुसार कर्म-बन्ध होता है। आयु कर्म-बन्ध को छोड़कर शेष सात कर्मों का बन्ध विभाव-भावों के अनुसार एक साथ होता है। कर्म-बन्ध के सम्बन्ध में प्रवचनसार की कुछ गाथाएँ महत्वपूर्ण हैं, जिनका अर्थ इस प्रकार है–

"जब आत्मा राग-द्वेष-मोह युक्त होता हुआ शुभ और अशुभ में परिणमित होता है तब कर्म-रज ज्ञानावरणादिक रूप से उसमें प्रवेश करतीं है। प्रदेश युक्त यह आत्मा यथा काल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्म रज से लिप्त या वद्ध होता हुआ बंध कहा गया है (गाथा १८७/१८८)।" "रागी आत्मा कर्म बांधता है, राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है– यह जीवों के बन्ध का संक्षेप निश्चय से है। परिणाम से बन्ध है, जो परिणाम राग-द्वेष-मोह युक्त है। उनमें से मोह और द्वेष अशुभ है और राग शुभ और अशुभ है (गाथा १७९-१८०)।"

कर्म-बन्ध-विधान–कर्म बन्ध चार प्रकार का होता है–प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थित्ति बन्ध और अनुभाग बन्ध। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में कहा है कि "कर्मों का ग्रहण योग के निमित्त से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। वह योग मन-वचन-काय से उत्पन्न होता है। कर्मों का बन्ध भावों के निमित्त से होता है और वह भाव रति-राग-द्वेष-मोह सहित होता है (गाथा ९६८)" सिद्धान्त चक्रवर्ती वसुनन्दी ने मूलाचार की आचार वृत्ति टीका में उक्त भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है। 'मन-वच-काय के कर्म का नाम योग है,' ऐसा सूत्रकार का वचन है। 'भाव' के निमित्त से बन्ध अर्थात् आत्मा के साथ संश्लेष सम्बन्ध होता है जो स्थिति और अनुभाग रूप है। 'स्थिति और अनुभाग कषाय से होते हैं' ऐसा वचन है। **'अथ को भाव इति प्रश्ने भावो रति राग द्वेष मोह युक्तो मिथ्यात्वासंयम कषाया इत्यर्थ इति'**। भाव क्या है? रतिराग द्वेष मोह युक्त परिणाम भाव कहलाते हैं अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम और कषाय भाव स्थिति बंध और अनुभाग बन्ध के कारण है।" आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा १८८ में **'सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोह राग दोसेहि'** कहकर इसी भाव की पुष्टि की है। आचार्य भगवन्तों के इन कथनों के सन्दर्भ में संसार दुख के मूल अर्थात् मिथ्यात्व को कर्म-बन्ध में गौण या अकार्यकारी जैसा कहना युक्ति-आगम के भावों के अनुकूल सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में विवेक संगत विचारणा अनिवार्य है।

षटखंडागम के बन्ध स्वामित्व विचय, खण्ड ३ की पुस्तक ८ में गुणस्थानों की दृष्टि से कर्म-बन्ध-विधान भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है–"प्रथम गुणस्थान में चारों प्रत्ययों (अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग) से होता है। इससे ऊपर के तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष तीन प्रत्यय संयुक्त बंध होता है। संयम के एकदेश रूप देश संयत गुणस्थान में दूसरा असंयम प्रत्यय मिश्र रूप तथा उपरितन कषाय व योग ये दोनों प्रत्ययों से बन्ध होता है। इसके ऊपर पाँच गुणस्थानों में कषाय और योग इन दो प्रत्ययों के निमित्त से बन्ध होता। पुनः उपशान्त मोहादि तीन गुणस्थानों में केवल योग निमित्तक बन्ध होता है। इस प्रकार गुणस्थान क्रम में आठ कर्मों के ये सामान्य प्रत्यय हैं (पृष्ठ २४)।

कर्म-बन्ध में इतना विशेष है कि मिथ्यात्व आदिक १६ कर्म प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व निमित्तक है क्योंकि मिथ्यात्व के उदय के बिना इनके बन्ध का अभाव है। २५ कर्म प्रकृतियाँ अनन्तानुबन्धी कषाय निमित्तक हैं, १० कर्म असंयम निमित्तक हैं, ४ प्रत्याख्यानावरण अपने ही सामान्य उदय निमित्तक हैं, ६ कर्म प्रमाद निमित्तक हैं, देवायु मध्यम विशुद्ध निमित्तक है, आहारद्विक विशिष्ट राग से संयुक्त संयम निमित्तक हैं, और परभव निबन्धक सत्ताईस कर्म एवं हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद और चार संज्वलन कषाय, ये सब ३६ कर्म कषाय विशेष के निमित्त से बंधने वाले हैं, क्योंकि इसके बिना उनके भिन्न स्थानों में बन्ध व्युच्छेद की उत्पत्ति नहीं बनती (वही पृष्ठ ७६.७७)। इन आगम-प्रमाणों के संदर्भ में कर्मबन्ध में मिथ्यात्व और कषाय भावों की भूमिका स्पष्ट होती है। मिथ्यात्व (दर्शन मोह) के उदय में उत्पन्न कषाय ही अनन्तानुबन्धी कषाय कहलाती है जो मिथ्यात्व की सहगामी है। मिथ्यात्व की ग्रंथि टूटते ही अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हो जायेगा। ऐसा नहीं है कि अनन्तानुबन्धी कषाय को मंद करने से मिथ्यात्व की ग्रंथि टूटे, क्योंकि कषाय भाव मंद करने या रोकने का भाव भी कर्त्तापने की पुष्टि है, जो जैनागम को इष्ट नहीं है। आत्मा तो ज्ञायक अकर्त्ता-अबद्ध है।

कर्म बन्ध के भेद–दो परस्पर विरोधी द्रव्यों के मध्य बन्ध के चार अंग हैं–(१) ज्ञान स्वभावी जीवात्मा, (२) जीवात्मा का मोह राग द्वेष युक्त विभाव भाव, (३) पुद्गल के कर्म बन्धन योग्य परमाणु और (४) उदय में आने वाले पूर्व वद्ध द्रव्य-कर्म। इनके मध्य तीन प्रकार का बन्ध होता है–पहला– जीव बन्ध जो जीव के मोह राग द्वेष रूप पर्यायों के एकत्व-भाव से होता है। इससे क्रोधादिक मनोविकारों का विस्तार निरन्तर होता जाता है। दूसरा– अजीव-बंध जो पुद्गल कर्मों के स्निग्ध-रूक्ष स्वभाव के कारण स्पर्श विशेषों के एकत्व-भाव से होता है। तीसरा–उभय बन्ध जो जीव तथा पुद्गल-कर्म के परस्पर भावों के निमित्त मात्र से उनके एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार विभावों से विभावों का बन्ध होता है। कर्मों से कर्मों का बन्ध होता है। और जीव तथा कर्मों के भावों के परस्पर निमित्त से उनके मध्य एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध भी ऐसा होता है कि कर्म के प्रदेश आत्मा का स्पर्श भी नहीं कर पाते। शुद्ध ज्ञान स्वभावी पर्याय कर्म-आवद्ध होती है। यह तभी सम्भव है जब जीव कर्मोदय जन्य क्रोधादिक विकारी भावों को अपना न माने और उनका मात्र ज्ञायक ही बना रहे। आत्मा का ज्ञायक साक्षी भाव स्वभाव है। इससे नवीन कर्म बन्ध की प्रक्रिया रुकती है और कर्म से निष्कर्म का मार्ग प्रशस्त होता है जो मोक्ष मार्ग कहलाता है।

मोक्ष मार्ग का स्वरूप–तत्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय का प्रथम सूत्र है–**'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग'** अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष मार्ग है। इससे आत्मा कर्मों की पराधीनता से मुक्त होकर स्वावलम्बी बनता है। इसका अर्थ है ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा का अपने स्वभाव में श्रद्धान या रुचि, उसका सम्यक् ज्ञान और आत्म रमणता ही मोक्षमार्ग है। यह तभी सम्भव है जब आत्म स्वभाव साधना से इन गुणों के प्रतिपक्षी कर्म और उनके कर्मों के कारक मिथ्यात्व, असंयम और कषाय भावों का अभाव हो जाये। यह कार्य संवर और निर्जरा पूर्वक होता है।

धर्म का आधार है अटूट-विश्वास, अपने आराध्य के प्रति। जैन-दर्शन में किसी परम शक्ति को आराध्य नहीं माना गया। एक मात्र अपनी आत्मा ही परम देव और आराध्य है। आत्मा का अनुभव ही धर्म की पहली कक्षा है जहाँ से कर्मों का प्रवेश रुकता है। आगम में कहा है–**आश्रव निरोधः संवरः'**। जब मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से निवृत्ति तथा निर्विकार–निर्विकल्प शुद्ध आत्म स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अनुभूति होती है तब पुद्गल कर्मों का आत्म प्रदेशों में आगमन स्वतः रुक जाता है। यह कार्य स्व-पर के भेद-विज्ञान पूर्वक होता है, जो आत्मा की ज्ञानात्मक सहज-क्रिया है। संवर में बुद्धिपूर्वक सहकारी होते हैं–तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह भावनायें बाइस परिषहजय और पाँच चारित्र। इनसे ऐसा पर्यावरण निर्मित होता है जो ज्ञान स्वभावी आत्मा को ज्ञान के द्वारा स्व-ज्ञेय में स्थापित होने में (करने में नहीं) सहयोग करता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान-दर्शनात्मक आत्मा का उपयोग अपनी ओर ही होता है और विकल्पात्मक भाव का भेद विलय हो जाता है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति का दूसरा चरण है निर्जरा। अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन है जो उसे पर-द्रव्यों में शुभाशुभ प्रवृत्ति कराते हैं। विकार-विभाव की उत्पत्ति की जड़ हैं–कर्म का उदय एवं कर्मों की सत्ता। निर्जरा से कर्मों की सत्ता का नाश होता है, वह भी करना नहीं पड़ता, क्योंकि 'करना' अधर्म है, होना धर्म है। पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता की निर्जरा 'तपसा निर्जरा च' के अनुसार तप से होती है। प्रकारान्तर से इच्छा के निरोध को भी तप कहते हैं। उत्तम क्षमादि दश धर्मों में भी तप सम्मिलित है। इस प्रकार तप से कर्मों का संवर और निर्जरा दोनों ही होते हैं।

तब बारह प्रकार के हैं–छह अंतरंग और छह बहिरंग। अंतरंग तप आत्माश्रित हैं, वे हैं–प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इससे ज्ञायक आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप में होने-जैसी-रहती हैं। बहिरंग तप शरीराश्रित हैं, वे हैं–अनशन, भूख के कम खाना (ऊनोदरी) भिक्षा चर्या, रस परित्याग, विविक्त शैय्यासन और काय क्लेश। यह तप शरीर और मन की ऐसी सहज स्थिति निर्मित करते हैं जिससे साधक अंतरंग तप के द्वारा शुद्धात्मा में स्थित रह सके। बहिरंग तप करते समय यदि आत्मा की उपलब्धि का भाव-बोध नही है तो वह शुद्धि की दृष्टि से निरर्थक है।

कर्मों की निर्जरा हेतु सभी तप एक साथ, आवश्यकतानुसार उपयोगी हैं किन्तु अन्तरंग तप में स्वाध्याय और ध्यान तप महत्वपूर्ण है। स्वाध्याय की नींव पर मोक्ष-मार्ग स्थित है। सत्शास्त्र का पढ़ना, मनन, चिन्तन या उपदेश ही स्वाध्याय है। जागरूकता-पूर्वक ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है। इससे कर्म संवर और निर्जरा होती है। "जिन शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से 'मोह-समूह' क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्र का सम्यक प्रकार से अध्ययन करना चाहिए (प्रवचनसार ८६)। आगम हीन श्रमण निज आत्मा और पर को नहीं जानता, पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों का क्षय किस प्रकार करेगा? (पृष्ठ २३३)। साधु आगम चक्षु है, सर्व इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, देव अवधि चक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं (पृष्ठ २३४)। आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो सिद्धि–कर्म क्षय–नहीं होता (पृष्ठ २३७)।" धवला १.१.१ गाथा ४८ एवं ५१ भी मननीय है–"प्रवचन अर्थात् परमागम के अभ्यास से मेरु समान निष्कम्प, आठ मल-रहित, तीन मूढ़ताओं से रहित अनुपम सम्यग्दर्शन होता है। अज्ञान रूपी अन्धकार के विनाशक भव्य जीवों के हृदय को विकसित और मोक्ष पक्ष को प्रकाशित करने वाले सिद्धान्त को भजो।" बुद्धि पूर्वक तत्व विचार से मोहकर्म का उपशमादिक होता है। इसलिए स्वाध्याय, तत्व-विचार में अपना उपयोग लगाना चाहिए, इससे ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान होता है।

कर्मों की निर्जरा आत्म ध्यान से होती है। एकाग्रता का नाम ध्यान है। "चारित्र ही धर्म है जो मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है। द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है उस समय उस भाव-मय होता है। इसलिए धर्म परिणत आत्मा स्वयं धर्म होता है। जब जीव शुभ अथवा अशुभ भाव रूप परिणमन करता है तब स्वयं ही शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्ध भाव रूप परिणमन करता है तब शुद्ध होता है" (प्र. सार ६ से ७)। निरुपाधि शुद्ध पारिणामिक भाव और निज शुद्धात्मा ही ध्यान का ध्येय होती हैं इससे ज्ञान-ज्ञायक-ज्ञेय तीनों का आनन्दमय मिलन होता है जिसका फल है प्रतिपक्षी कर्मों की पराजय–ध्वंस। ध्यान चार प्रकार का है–आर्तध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। इनमें आर्तध्यान और रौद्र ध्यान शुभ-अशुभ रूप मोह-राग-द्वेष उत्पन्न कराते हैं अतः अधर्म स्वरूप है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान आत्मोपलब्धि एवं वीतरागता उत्पन्न कराते हैं। धर्म ध्यान शुभ रूप होता है और शुक्ल ध्यान वीतराग। अवलम्बन की दृष्टि से ध्यान के चार भेद हैं–पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इस प्रकार संवर और तप से कर्मों का क्षय होता है और राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा के ज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं। निर्जरा दो प्रकार की है– सविपाक और अविपाक। सविपाक निर्जरा सभी जीवों की होती रहती हैं। अविपाक निर्जरा अर्थात् बिना फल दिये कर्मों का झड़ना सम्यक् तप से ही होती है जो निष्कर्म का मूल है।

कर्म से निष्कर्म का फल–सम्यक् तप का फल है वीतरागता की उत्पत्ति। धर्माचार से यदि राग-द्वेष का अभाव न हो तो वह निष्फल-निरर्थक होता है। संवर-निर्जरा से तप की अग्नि में जब समस्त कर्म-कलंक भस्म हो जाते हैं तब आत्म पटल पर केवल ज्ञान-दर्शनादि नौ लब्धियों का दिव्य सूर्य उदित होता है और आत्मा परम-शुद्ध, परिपूर्ण, स्वतंत्र, स्वाधीन और स्वावलम्बी हो जाता है। उसके शाश्वत ज्ञान-आनन्द के समक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान-सुखाभाव सभी अकिंचित्कर सिद्ध हो जाते हैं। मोह राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, असंयम/कषाय आदि का अभाव होने से कर्म-बन्ध का मार्ग सदैव के लिए अवरुद्ध हो जाता है। आत्मा विज्ञान घन रूप वीतराग आनन्द-शिव स्वरूप हो जाता है। आत्मा की इस स्वावलम्बी अवस्था को ही निष्कर्म का फल–मोक्ष कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म से निष्कर्म का आधार : मोहग्रंथि का क्षय–संसारी जीवात्माओं के अन्दर निरन्तर संघर्ष चल रहा है। एक ओर है, प्रतिपक्षी कर्मोदय से उत्पन्न मोह-राग-द्वेष रूपी कषायों के विभाव भाव जो निरन्तर आकुलता-व्याकुलता उत्पन्न कर पर-द्रव्यों से अनन्त सम्बन्ध स्थापित कराते हैं। दूसरी ओर है, आत्मा की पारिणामिक भाव और कर्मों के क्षयोपशमादि से उत्पन्न ज्ञान-दर्शन अर्थात् जानने देखने की अल्प शक्ति। उसके साधन हैं–भेद विज्ञान की विचार दृष्टि और ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोग। लक्ष्य है–कर्म-शत्रुओं का नाश कर स्वावलम्बी शुद्धात्मा का पर्याय रूप उपलब्धि और तदनुसार स्वभाव रूप धर्म की प्राप्ति।

विचार-दृष्टि मोहित-भ्रमित होकर मोहादि कषायों का साथ देकर अनन्त संसार की वृद्धि करती है। यदि ज्ञान शक्ति स्व-पर के भेद-विज्ञान द्वारा आत्म स्वभाव का पक्ष लेकर उस ओर झुकती/ढकती है तब विभाव-विकार उदयागत होकर भी निष्प्रभावी हो जाते हैं और कर्म शक्ति की वृद्धि को रोकते हैं। फिर ज्ञानात्मक उपयोग का आत्मा से निरन्तर सम्पर्क/अनुभव से पूर्व संग्रहीत कर्म-शक्ति का नाश होता है। इस प्रक्रिया में आत्मा को किसी पर-द्रव्य या कषायादि विभाव-भावों के प्रति कुछ करना/रोकना नहीं पड़ता, मात्र सहज स्वाभाविक रूप से तटस्थ रहकर जानना और साक्षी होना-होता है। बनना भी नहीं पड़ता क्योंकि बनना-बनाना कर्त्ता-कर्म का जनक है जो स्वभाव के प्रतिकूल है। ऐसा ज्ञायक होते-होते एक समय ऐसा आता है जब स्व-ज्ञेय, ज्ञान-ज्ञायक के एकत्व से कर्म सेना दुर्बल होते-होते धराशायी हो जाती है। आत्मा अन्त में सिद्ध जैसा शुद्ध होगा। ज्ञान और ज्ञायक दृष्टि से सिद्ध और संसारी जीव समान है। अन्तर है 'ज्ञेय' की भूमिका का। सिद्ध भागवान का ज्ञेय उनकी स्वयं आत्मा है। संसारी जीव का ज्ञेय पर-वस्तुएँ और अनन्त पर-संसार है। सिद्ध भगवान निरन्तर धारावाही रूप से स्व-संवेदन स्वरूप आतिथ्य आत्मानंद में लीन हैं जिसके समक्ष इन्द्रिय जन्य सुख अकिंचित्कर, श्रणिक-वाधित है। अतः सिद्ध जैसा होने के लिए आवश्यक है कि भेद-विज्ञान द्वारा अपने ज्ञान और ज्ञान दर्शनात्मक उपयोग को आत्मानुभव और आत्म-ज्ञान जैसा स्वभाव-रूप होने देकर शुद्धात्मा को उपलब्ध करें।

शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह ग्रन्थि का क्षय–अनन्त संसार का कारण मोह ग्रन्थि का क्षय शुद्धात्मा की उपलब्धि से होता है। इसके लिए पर-द्रव्य में कुछ करना नहीं पड़ता। अपने ज्ञान स्वभाव को जानकर अपने में अपने द्वारा अपने को ही अनुभूत करना होता है। ऐसा करने से शुद्धात्मा की उपलब्धि के साथ ही मोह ग्रंथि या मिथ्यात्व का क्षय हो जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की गाथा १९१ से १९४ पठनीय और मननीय है जिनका अर्थ इस प्रकार है–

'मैं पर का नहीं हूँ पर मेरे नहीं हैं मैं एक ज्ञान हूँ' जो इस प्रकार ध्यान करता है, वह आत्मा ध्यान काल में शुद्धात्मा का ध्याता होता है। (गाथा १९१)। मैं आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महा पदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ (गाथा १९२)। शरीर, धन, मुख-दुख, अथवा शत्रु-मित्रजन जीव के ध्रुव नहीं हैं। ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है (गाथा १९३)। जो व्यक्ति ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है, वह साकार हो या निराकार, 'मोह दुर्ग्रंथि का क्षय करता है (गाथा १९४)।

समयसार गाथा ७३ में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने क्रोधादिक सर्व आश्रवों की निवृत्ति हेतु इसी मार्ग की पुष्टि की है, जो इस प्रकार है–

अहमेक्को खलु सुद्धो निम्ममओ णाणदंसण समग्गो।
तम्हि हिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि॥७३॥

अर्थ–निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ; उस स्वभाव में रहता हुआ, उस चैतन्य अनुभव में लीन होता हुआ मैं इन क्रोधादिक सर्व आश्रवों को क्षय को प्राप्त कराता हूँ।

मोह ग्रंथि के क्षय हेतु अन्य उपाय भी प्रवचनसार में वर्णित हैं, जो प्रकारांतर से एक ही गन्तव्य को ले जाते हैं। 'जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण और पर्याय रूप से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है, क्योंकि अरहंत का इस प्रकार ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है (गाथा ८०)।' जो निश्चय से ज्ञानात्मक ऐसे अपने को और पर को निज-निज द्रव्यत्व से सम्बद्ध जानता है वह मोह का क्षय करता है। इस प्रकार भावात्मक स्व-पर विवेक से मोह क्षय होता है (गाथा ८९/९०)।' 'जिनशास्त्रों के अभ्यास द्वारा पदार्थों के सम्यक प्रकार से भाव-ज्ञान द्वारा भी मोह क्षय होता है (गाथा ८६)।' इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि, अरहंत भगवान की प्रतीति सहित आत्मा के ज्ञान, भाव-भासित स्व-पर विवेक एवं जिनशास्त्रों द्वारा पदार्थों के ज्ञान से दर्शन-मोह ग्रंथि का क्षय होता है। इससे स्पष्ट है कि मोह-क्षय के लिए आत्म-ज्ञान-विहीन कषायादिक विभावों को मंद करने, रोकने या उनके विकल्पों में उलझने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता किन्तु सहज-शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा रूप आत्मानुभव एवं शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह क्षय होता है। मोह सरोवर सूखने पर क्रोधादिक कषाय रूपी मगरमच्छों का निरंतरित अस्तित्व भी अल्पकालिक रह जाता है।

मोह ग्रंथि के क्षय का फल–दर्शन मोह के क्षय से स्वतंत्र आत्म दर्शन होता है और क्षोभ रहित अनाकुल सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रकट होता है। आगम के अनुसार प्रथम दर्शन मोह का क्षय-अभाव होता है पश्चात् क्रमिक रूप से चारित्र मोह का क्षय होकर आत्मा की शुद्ध ज्ञान-दर्शन पर्याय प्रकट होती है जो परावलम्बन का नाश करती है। आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं कि 'जो मोह ग्रन्थि को नष्ट करके, राग-द्वेष क्षय करके, सुख-दुख में समान होता हुआ श्रमणता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में परिणमित होता है, वह अक्षय-सौख्य अर्थात् परम आनन्द को प्राप्त करता है (प्र, सार. १९५)। आत्मा का ध्यान करने वाले श्रमण निर्मोही, विषयों से विरक्त, मन के निरोधक, और आत्म स्वभाव में स्थित होकर आत्मा का ध्यान करते हैं। ऐसी शुद्धात्मा को प्राप्त करने वाले श्रमण सर्व घातिया कर्मों का नाशकर सर्वज्ञ-सर्व दृष्टा हो जाते हैं (१९६.१९७)। और तृष्णा, अभिलाषा, जिज्ञासा एवं संदेह रहित होकर इन्द्रियातीत अनाकुल परिपूर्ण ज्ञान से समृद्ध परम आनन्द का अनुभव-ध्यान करते रहते हैं (१९८) उनके इस परम आनन्द की तुलना में इन्द्रिय जन्य संसार-सुख अकिंचित्कर-अकार्यकारी होता है, उसी प्रकार जैसे अंधकारनाशक दृष्टि वाले को दीपक प्रयोजन हीन होता है (गाथा ६७)।

आत्म श्रद्धान विहीन व्रत क्रियाएँ अकिंचित्कर—संक्षेप में आत्मा के साथ कर्म-बन्ध मिथ्यात्व, असंयम, कषाय एवं योग से होता है जबकि कर्म से निष्कर्म का मार्ग प्रशस्त होता है ज्ञान-सूर्य के उदय से। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अंधकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के क्षितिज पर ज्ञान सूर्य उदित होते ही मोह-अंधकार विलीन हो जाता है। निष्कर्म का सूत्र है आत्म-श्रद्धान ज्ञान और चारित्र। भेद-विज्ञान पूर्वक आत्मानुभव से आत्म श्रद्धान एवं आत्मोपलब्धि होती है, जिससे मोह ग्रंथि का क्षय होता है। शुद्धात्मा के निरन्तर ध्यान रूप तप से राग-द्वेष का जनक-कारक चारित्र-मोह का क्षय होकर आत्मा परम आनन्दमय होता है।

इस क्रम में व्रत क्रिया के शुभोपयोग रूप अनेक अनेक पडाव आते हैं और विलीन होते जाते हैं। यह तभी कार्यकारी होते हैं जब दृष्टि शुद्धात्मा पर होती है। आत्म श्रद्धान विहीन भाव-रहित व्रत-क्रियाएँ निष्कर्म मार्ग में अकिंचित्कर होती हैं। आगम में कहा भी है कि ' सम्यक्त्व बिना करोड़ों वर्ष तक उग्र तप भी तपै तो भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती'' (दर्शन पा. ५)। इसी प्रकार चारित्र रहित ज्ञान, दर्शन रहित साधु लिंग तथा संयम रहित तप निरर्थक है। (शीलपाहुड ५)। भाव सहित द्रव्य लिंग होने पर कर्म का निर्जरा नामक कार्य होता है, केवल द्रव्य लिंग से नहीं। भाव रहित नग्नत्व अकार्यकारी है। हे, धैर्यवान् मुने, निरन्तर नित्य आत्मा की भावना कर (भाव पा. ५४-५५)।

उपसंहार—जो व्यक्ति अपनी आत्मा को जैसा देखता है, वैसा ही पाता है, आत्मा को शुद्ध जानने वाला शुद्धात्मा को पाता है और अशुद्ध जानने वाला शुद्धात्मा को पाता है (स. सार १८६)। कर्म से निष्कर्म होने हेतु परम पारिणामिक भाव आश्रित शुद्धात्मा का ज्ञान-ध्यान कर सभी परम सुख को प्राप्त करें, यही कामना है।

पता :
के/ओ. ऑरियन्ट पेपर मिल्स
अमलाई - ४८४११७ (म. प्र.)

दयालु

है दया धर्म का मूल, असूल पुराना ॥
श्रावक नही पीता पानी कभी अनछाना ॥टेर॥

छह काया पर वह दया करे तन-मन से।
दे सहायता दुखियों को तन से, धन से॥
कर तिरस्कार मारे न किसी को ताना ॥१॥

भूखे को भोजन प्यासे को दे पानी।
रोगी को औषध दे कहलाये दानी॥
अनुकंपा द्वारा धार्मिक लाभ कमाना॥२॥

दे आश्रय आश्रय-हीन दीन जो आये।
बेरोजगार को काम में तुरत लगाए॥
गिरता हो स्तर से ऊँचा उसे उठाना॥३॥

बस दयालुता का सादा अर्थ यही है।
समता का सेवन करना व्यर्थ नहीं है॥
''मुनिपुष्कर'' श्रावक ले श्रमणों का बाना॥४॥

—उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि
(पुष्कर-पीयूष से)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org